



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(1): 90-91

© 2017 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 22-11-2016

Accepted: 23-12-2016

डा. गिरीशचन्द्र पन्त

संस्कृत विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

डा. ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यसत्यालोक में मानव मूल्य

डा. गिरीशचन्द्र पन्त

प्रस्तावना

प्रत्येक मानवीय मूल्यों की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय प्रायः धर्म और दर्शनरूपी तुला पर होता है जिसके साधन होते हैं तत्-तत् समाज के उभयविध ग्रन्थ – १. शास्त्रीय और २. लौकिक। यही कारण है कि भारतवर्ष की वर्तमान न्यायिक व्यवस्था भी प्रायः अपने निर्णयों को धर्म-विशेष की दुहाई देकर परिवर्तित करने को बाध्य हो जाती है। हमारी संस्कृति में निहित ग्रन्थों में नीति-सिद्धान्त न केवल हमारी नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को विशेष आधार प्रदान करते हैं अपितु इनका पोषण भी करते आये हैं।

संस्कृत ग्रन्थों की सम्पदा में एक विधा “काव्यशास्त्र” भी है जिसमें लौकिक काव्यों की सत्ता का परीक्षण करके काव्य प्रणयन विधि के साथ-साथ उनकी जीवन्तता, महत्त्व अथवा काव्यों की क्षयता के कारणों का भी उल्लेख हुआ है। आचार्य भरतप्रणीत “नाट्यशास्त्र” नामक कृति से काव्यशास्त्र का आरम्भ समीक्षकों द्वारा निर्धारित है। अपने इस सुदीर्घ परम्परा में प्राचीनता के साथ ही अर्वाचीन स्वरूप के रूप में भी इस शास्त्र ने स्वयं को प्रतिष्ठापित किया है। उभयरूप काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य काव्य की निर्मिति, काव्यविधा, काव्यस्वरूप, काव्यप्रयोजन से सम्बद्ध मूल्यों का व्यवस्थापन रहा है।

लोक में जीवनमूल्यपरक एक शाश्वत विधि-विधान जैसी कोई सामाजिक संस्था पृथक् रूप से निर्मित नहीं है अपितु विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं के अनुरूप इसका स्वतः निर्धारण होता है। कालचक्र के अनुरूप इसमें परिवर्तन भी अपेक्षित होता है और इसके प्रतिष्ठापक सदस्य इसमें आवश्यकता अनुरूप संशोधन भी करते रहते हैं। तथैव काव्यशास्त्र की भी गति है।

यथा:- काव्य का प्रयोजन धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पारम्परिक उद्देश्य से पृथक् आचार्य द्विवेदी¹ ने युगानुरूप जन-जन की आवश्यकता पूर्ति तथा राष्ट्रप्रबोधन को निरूपित किया। वहीं डा. ब्रह्मानन्द शर्मा² ने कवि के स्वभाव में उपस्थित सत्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। एवंविध काव्यशास्त्र की विधिनियमन पद्धति और मानवमूल्य निर्धारण मार्ग में निहित इसी समतुल्यता को दर्पणवत् मानकर प्रस्तुत शोधपत्र केद्वारा प्रस्तुत से किया जा रहा है।

यह सर्वविदित है कि मानव मूल्य और नैतिक चिन्तन में परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध है। नैतिक चिन्तन का आधार स्तम्भ है धर्म और दर्शनाये दोनों ही नैतिक तत्त्व जीवन के विविध दृष्टिकोण और अवस्था को रेखाङ्कित करते हैं। यथा- जीवन क्या है? इसका लक्ष्य क्या है? जीवनयापन की श्रेष्ठ शैली क्या है? किस आचरण को अनुकरणीय अथवा किसे हेय समझना चाहिए? सांसारिक जीवन में पतञ्जलिकृत योगदर्शन³ का अनुयायी होना चाहिए अथवा चार्वाक⁴ ऋषि का? एवंविध प्रश्नों का उत्तर एवं विश्लेषण सहित समाधान किसी भी सभ्य समाज में धर्म और दर्शन द्वारा ही होता है।

सत्यनिरूपण:- सत्य सभी को अभिष्ट होता है। काव्य में भी यही स्थिति मानी गयी है। भौतिक पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं- कठोर, द्रव और वाष्परूप। कठोररूप से द्रव की प्राप्ति होती है और द्रवरूप से वाष्प रूप की। जैसे- हिम से जल की प्राप्ति और जल के साथ उष्णता का योग होकर वाष्प की प्राप्ति होती है और वाष्प जल का ही सूक्ष्म रूप है। इसी प्रकार काव्य में भी चमत्कार होता है। काव्य चित्तगत आवेग है और एक ओर सत्यगत सूक्ष्मता और दूसरी ओर चित्तगत आवेग। इसी के संयोग से काव्य प्रवाहित होता है। आदिकवि वाल्मिकी के सामने चक्रवात मिथुन में से एक के कारुणिक अन्त और दूसरे के चित्तगत शोक के आवेग का दृश्य था। यह सत्य की भूमि थी और उस सत्य की भूमि पर वाल्मिकी के चित्त का आवेग कविता के रूप में निर्गत हुआ और कविता निकली-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधिकाममोहितम्॥ वाल्मिकी रामायण

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा सत्य को ही काव्य में अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हैं और कहते हैं-

Correspondence

डा. गिरीशचन्द्र पन्त

संस्कृत विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

न ममालौकिकी प्रज्ञा वाचि न चास्ति पाटवम्।
आभासे मे न विश्वासः सत्यं हि शरणं ममा।
सत्यं प्रियं हि सर्वस्य सौक्ष्म्येनाश्रु प्रकृष्टता।

शास्त्रे ज्ञानमिदं प्रोक्तं काव्येऽनुभूतिरिष्यते। काव्यसत्यालोक १/३-४
काव्य में पात्र के योग से ही मूर्तिमत्ता बनती है। यही कारण है कि यथार्थ या स्वभावोक्ति के चित्रण में सत्य के साक्षात् दर्शन होते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए एक चित्र कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् से लिया जा सकता है-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दभैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्त्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति।। अ.शा.

लोकसत्य का मूल है। आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा के अनुसार लोक ही सत्य का मूल है। लोक में ही सत्य प्रतिष्ठित रहता है। इसीलिए कविता के रूप में अभिनिवेश करने वाले कवि को लोक के आधार की रक्षा करनी चाहिए। यदि कवि को लोकसत्य में अनुराग है तो काव्य निश्चित ही रसवत्ता को प्राप्त होगा और यदि उसमें लोकसत्य का अभाव रहा तो काव्य भी नीरस ही होगा।

लोको मूलं हि सत्यस्य लोके सत्यं प्रतिष्ठितम्।
लोकाधारस्य ततोरक्षः कवीनाऽभिनिवेशिना।।
लोकसत्येऽनुरागश्चेत् काव्यस्य रसनीयता।
तत्रैव तदभावे च तस्य नीरसता मता।। काव्यसत्यालोक १/५-६

आचार्य शर्मा यहाँ पर आचार्य आनन्दवर्धन से प्रभावित प्रतीत होते हैं जिन्होंने ध्वन्यालोक में यह उद्धोष किया-

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्।।

अर्थात् कवि शृङ्गार रस के चित्रण में लोक से ही तो उपादान ग्रहण करेगा और वह तभी ग्रहण करेगा जब उसके चित्त में शृङ्गार का अभिनिवेश होगा। अन्यथा यदि वह वीतरागी हुआ तो लोकगत पदार्थों में उसकी रुचि नहीं होगी। अतः उसका काव्य भी नीरस होगा।

आचार्य शर्मा तीन प्रकार के सत्य स्वीकार करते हैं। १. प्रकृतिगत सत्य २. अर्थगत और ३. हृदयगत सत्य। लेकिन इन तीनों सत्य में अर्थगत सत्य की प्रधानता को स्वीकार करते हैं।

१. प्रकृतिगत जितने भी पदार्थ हैं वे अपनी-अपनी सत्ता पर आसीन हैं। लेकिन अगर सांख्य-दर्शन के अनुसार विचार किया जाए तो यह सम्पूर्ण प्रकृति ही विकृति रूप है। वास्तविक प्रकृति तो अव्यक्तरूपा है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा है-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः ससा।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।

इसलिए प्रकृतिगत जितना भी सत्य दिखाई देता है लोक का उसी के साथ सम्बन्ध रहता है।

२. अर्थगत या प्राणगत सत्य – लोक जीवन में कर्म की ओर प्रेरित करने वाले दो तत्त्व हैं – प्राण और हृदय। इसलिए सत्य भी दो प्रकार का है – प्राणगत और हृदयगत-

प्राणामूलं हि लोकस्य प्रानाश्चैतेऽर्थमास्थिताः। अर्थोन्मुखानि भूतानि आर्थस्यातः परा स्थितिः।।
श्रमो मूलमर्थस्य अतोऽत्रैवास्य युक्तता। वैषम्यमद्भुतं लोके अन्यत्रैवार्थसञ्चयः।।

अर्थात् प्राणधारण के लिए अन्न-जलादि की अपेक्षा होती है। इसीलिए प्राण भूख-प्यास आदि का अनुभव करते हैं। यही प्राणों की अन्न-जल आदि के प्रति प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति एक बार हो जाने से शान्त नहीं होती अपितु अर्थसञ्चय के प्रति उसका प्रसार होता है और प्रसार होते होते जब अतिशयता को प्राप्त कर लेता है तो उसका सम्बन्ध अहङ्कार से जुड़ जाता है। समाज में अर्थ सम्बन्धी इसी सत्य को अर्थ या प्राणसत्य कहा गया है। इसी सत्य से समाज में धनिक और निर्धन वर्ग का निर्माण होता है और उससे विषमता आती है और इससे प्रानानुगत हृदय का योग होकर संघर्ष की स्थिति प्राप्त होती है और इस सत्य के सात हमारा प्रगाढ सम्बन्ध बन जाता है।

३. हृदयगत सत्य – हृदयतत्त्व के साथ जब समाज का सम्बन्ध होता है तो विभिन्न प्रकार के समुदाय बनते हैं और इससे क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप वैषम्य का आविर्भाव होता है। परन्तु समाज में हृदयगत तत्त्व और प्राणगत तत्त्व का साम्य दिखाई पड़ता है। इनमें से जिस तत्त्व की प्रधानता होती है उसी रूप में समुदाय में परिवर्तन दिखायी पड़ते हैं। इन्हीं साम्य-वैषम्य रूप तत्त्वों से जबकवि हृदय का साधारणीकरण होता है तो क्रान्तिकारी कविता का उद्गम होता है। नाट्यशास्त्र भी सम्भवतः यही कहता है- यानि शास्त्राणि ये धर्माः यान् शिल्पानि याः क्रियाः। लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्।।

इसी लोकसत्य की भूमि पर काव्यसत्यरूपी रस के तत्त्व सम्बद्ध होते हैं। इसी लिए भरत और मम्मट कहते हैं-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणी यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावानुभावाश्च अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैः विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।। का.प्र.

इस प्रकार आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा का मत है कि काव्यगत रसप्रतीति के आधारभूत तत्त्व विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव लोकसत्य की आधारभूमि पर अवस्थित होते हैं। इसलिए कविता का विषय समाज को लोकसत्य के साथ जोड़ता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. युगावश्यकतापूर्तिमन्त्रव्यक्तिरपि क्वचित्। प्रयोजनं रघुव्यक्ती रघुवंशे यथा कवेः।। काव्यालङ्कारिका पृ. २६
2. प्रवृत्तिर्या कवेः सत्ये काव्ये सा परिवर्तते। नात्र प्रयोजनं किञ्चित् स्वभावस्तु प्रवर्तते।। काव्यसत्यालोक पृ. ७५
3. योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः
4. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।